

दुनिया भर में डर

जो लोग काम पर लगे हैं वे भयभीत हैं कि उनकी नौकरी छूट जायेगी जो काम पर नहीं लगे वे भयभीत हैं कि उनको कभी काम नहीं मिलेगा जिन्हें चिंता नहीं है भूख की वे भयभीत हैं खाने को लेकर लोकतंत्र भयभीत है याद दिलाये जाने से और भाषा भयभीत है बोले जाने को लेकर

आम नागरिक डरते हैं सेना से, सेना डरती है हथियारों की कमी से हथियार डरते हैं कि युद्धों की कमी है यह भय का समय है स्त्रियाँ डरती हैं हिंसक पुरुषों से और पुरुष डरते हैं निर्भय स्त्रियों से

चोरों का डर, पुलिस का डर डर बिना ताले के दरवाजों का, घड़ियों के बिना समय का बिना टेलीविजन बच्चों का, डर नौद की गोली के बिना रात का और दिन जगने वाली गोली के बिना

भीड़ का भय, एकांत का भय भय कि क्या था पहले और क्या हो सकता है मरने का भय, जीने का भय.

- एदुआर्दो गालेआनो
अनुवाद : दिगम्बर

साहब...हसीना... और इतिहास



सुंदर गुर्जर

दिन में तीन-तीन रैलियों की थकान थी तो जहाज में बैठते ही नौद आ गई। जहाज अब आसमान की ऊँचाइयों पर था, कि तब तेज आवाज गुंजी - दीदी दी दी दी दी ओ दीदी सुनती क्यों नहीं हो दीदी। कर्मचारियों में इतनी हिम्मत नहीं थी कि साहब को उठा के बोल दें कि साहब चुनाव प्रचार खत्म हो गया है।

लेकिन आवाज इतनी तेज थी कि प्रभु की नौद में खलल पड़ गया। उन्होंने नारद को बुला कहा - जरा देखो शायद कोई मंदिरालय से सीधे इधर विचरण को आ गया लगता है।

नारद ने पता कर प्रभु को दूरभाष पर संदेश दिया कि प्रभु ये तो भारत के प्रधान हैं जो स्वप्नलोक में हैं। आप कहें तो उठा दूँ, प्रभु बोले नारद तुरंत वापस आ जाओ। वो छेड़ने वाली चीज नहीं है। (मोबाइल उस वक्त था विप्लव देव भाजपा के सीएम पहले ही आपको बता चुके हैं)

अब जहाज बांग्लादेश की सीमा में पहुँच चुका था। उतरने के पहले कर्मचारी ने साहस कर उन्हें उठाया और कहा - साहब शेख हसीना आई है।

साहब बुदबुदाया-ओह हसीना... नहीं साहब आप बांग्लादेश में हैं। शेख हसीना यहाँ की प्रधान है। ...पर हम बांग्लादेश आये क्यों हैं? साहब, घुसपैठियों की बात करनी होगी ना आपको। कर्मचारी को पास बुलाया और एक कान के नीचे बजाते हुए बोले वो केवल चुनावों में बोलने की बात है।

साहब अब शेख हसीना के साथ चल दिए आयोजन स्थल के लिए। साहब सम्बोधन के दौरान भावुक होकर बोले - मैंने बांग्लादेश की आजादी के लिए सत्याग्रह में भाग लिया और जेल भी गया।

तभी पब्लिक में से आवाज आई...आयं... शेख हसीना के पास बैठे व्यक्ति ने पूछा - मैडम ये सत्याग्रह कब हुआ था? मैडम बोली-तु चुप कर बैठ, मेरे पास मंत्रालय से फोन आ गया था कि चिलम भरने वाला आदमी बदल गया है। कुछ ऊँच-नीच हो जाये तो संभाल लेना। और इस प्रकार हमारे प्रधान ने एक बार फिर इतिहास की ऐसी-तैसी कर दी।

श्रम

पूर्वी बर्लिन में मजदूर तो क्या पूरी व्यवस्था ही दुर्दशाग्रस्त थी

सतीश कुमार

साम्यवादी पूर्वी बर्लिन के पिंजरेनुमा शहर में प्रवेश करने से पहले मैं बेल्जियम से जर्मनी, नीदरलैंड होते हुए डेनमार्क व स्वीडन तक गया। दरअसल बेल्जियम कॉन्फ्रेंस में आये प्रतिनिधियों से अच्छी खासी मित्रता हो गयी थी। उन्हीं मित्रों ने अपने-अपने उक्त देशों में आने के लिये मुझे आमंत्रित किया था। उन्हीं में से कुछ मित्र मुझे कार से जर्मनी ले गये थे, जहाँ हेमबर्ग, कोल व कुछ अन्य छोटे-मोटे औद्योगिक कस्बों को देखा, वहाँ के श्रमिकों से वार्तायें की। उत्तरी जर्मनी में स्थित कोल वह जगह है जहाँ पनडुब्बियाँ बनाई जाती हैं। भारतीय नौसेना के लिये भी वहाँ से बन कर कुछ पनडुब्बियाँ 1980 के दशक में आई थी। वहाँ के कामगारों से भी अच्छी-खासी बातचीत हुई थी।

डेनमार्क से वापसी पर पुनः जर्मनी आने पर एक पाकिस्तानी कॉमरेड के साथ हमने बर्लिन का दौरा तय किया था। सैकड़ों किलोमीटर लम्बा हाईवे जो गुजरता तो पश्चिमी जर्मनी से था उसके निर्माण एवं रख-रखाव का सारा खर्च प. जर्मनी वहन करता था, परन्तु चालान करके वसूली का अधिकार पू. जर्मन पुलिस के पास था। इसी पुलिस ने एक जगह हमें रोक कर ओवर स्पीड का चालान करके 25 डॉलर वसूलने चाहे, लेकिन हम अड़ गये तो पुलिस वालों ने आपस में यह कह कर छोड़ दिया कि ये तो खुद कंगले हैं।

एक रात प. बर्लिन में गुजरने के बाद हम लोग दीवार के उस पार यानी पू. बर्लिन जाने के लिये निकले। सुरक्षा की दृष्टि से वह रास्ता इतना संकरा व पेचीदा बनाया गया था कि कोई वहाँ से अवैध आवाजाही न कर सके। बड़े भारी-भरकम कंक्रीट के बेरिकेड्स इस तरह से लगाये गये थे कि कार को करीब 5-6 मोड़ काटने पड़ते थे, कम से कम 3 बार कार की पूरी तलाशी, यहाँ तक कि कार के निचले तले तक को शीशे द्वारा देखा जाता था। पूछने पर बताया गया कि पू. बर्लिन से भाग कर प. बर्लिन जाने के लिये लोगों ने जो तरह-तरह के उपाय किये थे, उन्हें रोकने के लिये यह सब कुछ किया गया था।

दिन भर पू. बर्लिन घूमते रहे। हमारे पास 20-20 डॉलर के बराबर की जो पू. जर्मन मुद्रा थी, वह हम कहीं खर्च नहीं कर पाये, क्योंकि उस मुद्रा से न तो हम कार में पेट्रोल डलवा सकते थे न ही कोई इलेक्ट्रॉनिक सामान खरीद सकते थे, और तो और पुलिस द्वारा किये जाने वाले किसी चालान का जुर्माना भी उस मुद्रा से अदा नहीं किया जा सकता था। उस मुद्रा से हमने किसी रेस्तरां में कुछ खाना-पीना चाहा तो वह भी संतोषजनक नहीं था। एक पार्क के पास 'पार्किंग' का बोर्ड लगा देख कर हमने गाड़ी खड़ी की और 15-20 मिनट बाद आये तो वहाँ खड़ा पुलिस वाला 5 डॉलर का चालान काटे खड़ा था। किस बात का? यहाँ गाड़ी क्यों खड़ी



की? हमने 20-30 फ्रीट दूर लगे 'पार्किंग' बोर्ड की ओर इशारा किया तो उसने कहा कि केवल उस बोर्ड के साथ ही खड़ी करनी थी, इतनी दूर नहीं। हमने सोचा कि चलो 5 डॉलर के बराबर की पू.जर्मन मुद्रा इन्हें देकर पिंड छुड़ायें। लेकिन पुलिस वाला बोला नहीं केवल डॉलर या पाउंड स्टर्लिंग। बड़ी आश्चर्यजनक बात थी कि कोई देश अपनी ही मुद्रा लेने से इनकार कर रहा था। लिहाजा पांच डॉलर देकर ही पिंड छुड़ाना पड़ा।

बेशक हम वहाँ के किसी खास औद्योगिक क्षेत्र अथवा श्रमिकों से नहीं मिल पाये; लेकिन वहाँ के रेस्तरां में काम करने वालों व सड़क किनारे कुछ सामान बेचने वालों से जरूर हमने बातचीत करने का प्रयास किया। अधिकतर लोग मुंह खोलने से भी डरते थे, लेकिन उनकी भिखारियों जैसी भाव-भंगिमा बिना कुछ कहे ही सब कुछ कह जाती थी। खाने-पीने की सामान्य वस्तुएं-दूध, ब्रेड, अंडे, मसखन आदि का भी वहाँ अभाव साफ नजर आ रहा था। वे हम जैसे पर्यटकों को बड़ी ललचाई एवं आस भरी नजरों से देखते रह जाते थे। बिना कुछ कहे मानो वे कुछ कह रहे हों कि कोई उन्हें इस जेल रूपी देश से बचा ले। वहाँ हमें जानकारी मिली कि अनेकों लोगों ने दीवार फांदने एवं कई अन्य तरीकों से निकल भागने का प्रयास किया था, जो सफल हो गये वो तो प.जर्मनी में बस गये, असफल मौत का ग्रास बन गये।

एक साल बाद यानी 1985 में मास्को शहरवासियों की भी दुर्दशा को देख कर लगने लगा था कि यह निजाम तो कोई बहुत देर तक चलने वाला नहीं। आखिर कोई तानाशाही शासक वर्ग 'अच्छे दिनों' के सपने दिखा कर कब तक इतनी बड़ी जनसंख्या को बेवकूफ बनाये रख सकता है? आखिर वह वक्त 1989-90 में आ ही गया जब पोलैंड के गडांस्क शहर के (बंदरगाह) वर्क्स ने लेच वलेसा के नेतृत्व में देशव्यापी श्रमिक आन्दोलन खड़ा कर दिया। मजे की बात यह रही कि पोलैंड के इस आन्दोलन की लपटें पड़ोसी देशों आस्ट्रिया, हंगरी तक तो सीधे तौर पर पहुँची और गर्म हवा उन तमाम पू. यूरोपियन देशों तक भी पहुँची जहाँ साम्यवाद

का परचम लहरा रहा था। लेच वलेसा द्वारा गठित सॉल्लिडेरिटी संगठन ने लम्बा संघर्ष जीत कर न केवल श्रम सम्बन्धी मांगे मनवाईं, बल्कि आम जनता में भी अपना इतना प्रभाव कायम कर लिया कि 1992 में हुए आम चुनाव के सॉल्लिडेरिटी ने एक अन्य (अपनी किस्म की) पार्टी से मिल कर संसद की बहुमत सीटें जीत ली और राष्ट्रपति पद तक पहुँच गया। वलेसा के नेतृत्व में पोलैंड के मजदूरों की इस जीत का प्रभाव तमाम पूर्वी यूरोपियन देशों, यहाँ तक कि सोवियत संघ तक भी पड़ा। इसी प्रभाव के चलते न केवल सोवियत संघ विखंडन की ओर बढ़ने लगा, बल्कि पू. यूरोप के तमाम देशों में आजादी के लिये संघर्ष की लहर ऐसी दौड़ी कि बर्लिन की दीवार तक ढह गयी, दो हिस्सों में बंटा जर्मनी एक हो गया। इस एक होने से जहाँ पू. जर्मन वासियों को बड़ी राहत एवं सुकून मिला, वहीं प. जर्मन वासी खुश नहीं थे क्योंकि उनकी सुख-समृद्धि एवं नौकरियों में हिस्सा बंटाने बद्दहाल लोग आ पहुँचे थे।

अपने इस दौर के दौरान मैंने देखा कि ब्रिटिश श्रमिकों द्वारा 'मिलिटेंट' नामक एक साप्ताहिक अखबार प्रकाशित किया जा रहा था तो दूसरी ओर देश से निष्कासित पाकिस्तानी कॉमरेड यूरोप से ही उर्दू भाषा में 'तबकाती जदो-जहद' नामक एक पाक्षिक पत्रिका निकाल कर पाकिस्तान भेजा करते थे। दोनों ही प्रकाशन सरकारों एवं पूंजीवादी व्यवस्था की कड़ी आलोचना करते थे। ब्रिटेन में तो इसकी आजादी थी, लेकिन पाकिस्तान में इस पर पाबंदी होने के चलते इसे अवैध तरीकों से वहाँ की जनता तक पहुँचाया जाता था। विदित है कि तमाम मीडिया पर सदा से ही सरकार एवं पुंजीपतियों का आधिपत्य रहा है। मैंने भी इसे अपने शहर में बखूबी देखा था कि तमाम मीडिया मजदूर आन्दोलनों के विरुद्ध ही प्रकाशन करते थे। उक्त दोनों पत्रिकाओं से प्रेरित होकर मैंने भी कोई छोटा-मोटा प्रकाशन आरम्भ करने की सोची। नवम्बर 1987 में मेरी इस सोच ने 'मजदूर मोर्चा' पाक्षिक का रूप लिया। (सम्पादक : मजदूर मोर्चा)

व्यंग्य

हूबहू मोदी.....

एक आदमी ने 1995 में अमेरिका में दो बैंक लूटे। दोनों जगह वह बिना चेहरा ढके गया और बैंक से पैसा लूटने के बाद मुस्कुराता हुआ सिक्वोरिटी कैमरा के सामने जाकर खड़ा हो गया। कैमरे के सामने वह बड़े आराम से काफी देर तक खड़ा रहा और उसको मुंह चिढ़ाता रहा, फिर वह भाग गया। पर रात होते तक पुलिस ने उसकी पहचान कर के उसको गिरफ्तार कर लिया। लूटेरा अपनी गिरफ्तारी पर स्तब्ध था। उसको समझ नहीं आ रहा था कि उसकी पहचान कैसे हुई। पुलिस वालों ने उसको बताया कि भइया, हमें पहचान करने में कोई दिक्कत नहीं आई थी, क्योंकि तुम नकाब नहीं पहने थे और उसके ऊपर तुम खुद ही सिक्वोरिटी कैमरा के सामने आकर अपना वीडियो बना गए थे। पर लूटेरे को उनकी बात पर यकीन नहीं हो रहा था। वह हैरान था कि कैमरे ने उसकी तस्वीर ले कैसे ली, जबकि वह अपने चेहरे पर नींबू का रस लगा कर गया था। उसको विश्वास था कि नींबू का रस आदमी को अदृश्य कर देता है और पुलिस वाले जो कैमरे पर लिया गया वीडियो दिखा रहे हैं, वह फर्जी है।

उसकी दलील थी कि नींबू का रस अदृश्य स्याही बनाने के लिए उपयोग किया जाता है और चूँकि उसके उपयोग से लिखा हुआ गायब

हो जाता है, तो उसका चेहरा भी गायब हो गया था। इसलिए उसके मुताबिक उसके सामने जो वीडियो साक्ष्य प्रस्तुत किए जा रहे थे, वे सब नकली थे। पुलिस ने उसे बहुत समझाया, पर वह नहीं माना और अंत तक अपनी बात पर अड़ा रहा कि वास्तव में नींबू की वजह से वह अदृश्य था और पुलिस बकवास कर रही थी। वैसे यह बैंक चोर न तो पागल था और न ही उसने मादक पदार्थों का सेवन किया हुआ था। बस, उसे अपने ज्ञान पर इतना आत्मविश्वास था कि उसके आगे उसे सारे साक्ष्य बेतुके और झूठे लग रहे थे।

इस घटना से प्रेरित होकर कॉर्नेल यूनिवर्सिटी के दो विद्वानों- डेविड डनिंग और जस्टिन क्रूगर- ने एक शोध शुरू किया, जिसकी परिणति डनिंग-क्रूगर सिद्धांत के रूप में हुई। व्यंग्य शिरोमणि हरिशंकर परसाई ने उनके निष्कर्ष को पहले ही शब्द दे दिए थे। परसाई ने कहा था, आत्मविश्वास कई तरीके का होता है- धन का, सत्ता का या फिर ज्ञान का। पर सबसे प्रचंड आत्मविश्वास मूर्ख का होता है। बैंक चोर ने परसाई की हंसाई को गंभीर रूप दे दिया था।

बैंक चोर की मूर्खता से प्रभावित होकर डनिंग और क्रूगर ने जो अध्ययन किया, उसमें पाया कि अमूमन जिन लोगों के पास कम

जानकारी होती है और जिनमें जानकारी जमा करने की क्षमता भी कम होती है, वे अपने सीमित ज्ञान को लेकर बेहद आक्रामक होते हैं। क्षमता के अभाव में उनके पास साक्ष्य को अस्वीकार कर देने की प्रतिभा होती है और वे बहस किए जाते हैं कि जो वे कह रहे हैं, वही सही है और स्वयं में साक्ष्य भी है। बैंक चोर की तरह वे भी नींबू का रस लगा कर गायब हो जाने वाली बात कर पूरे आत्मविश्वास से अड़े रहते हैं। आखिरकार, वे तर्क करते हैं कि जब नींबू से लिखावट गायब हो सकती है, तो आदमी क्यों नहीं?

चार्ल्स डार्विन ने अपनी किताब 'एसेंट ऑफ मैन, 1871' में लिखा था कि कम जानकारी लोगों में ज्यादा जानकारी की लालसा नहीं उत्पन्न करती, बल्कि उनमें आत्मविश्वास बढ़ाती है। वे अपने दोष को नहीं देख सकते हैं और इसलिए दोष को पूरे आत्मविश्वास के साथ गुण मनवाने के लिए भिड़ जाते हैं। टिवटर और फेसबुक पर इस तरह की प्रवृत्ति के लाखों उदाहरण उपलब्ध हैं। शोधकर्ताओं का कहना है कि मूर्ख को नहीं मालूम होता कि वह मूर्ख है। दूसरे शब्दों में, उसको नहीं मालूम है कि उन्हें नहीं मालूम है। उसका घोर आत्मविश्वास नामालूमियत की भरपाई कर लेता है।

-साइबर नजर